प्राकृत-समय

डॉ. ज्योतिबाबू जैन

Scanned with OKEN Scanner

प्राकृत-समय

(प्राकृत विद्या : आधुनिक संदर्भ में)

सम्पादक

डॉ. ज्योतिबाबू जैन

भारतीय ज्ञानपीठ

Scanned with OKEN Scanner

मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थांक 95

ISBN978-93-90658-43-4

प्राकृत-समय

(प्राकृत विद्या : आधुनिक संदर्भ में)

(शोध)

संपादक : डॉ. ज्योतिबाबू जैन

प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110 003

मुद्रक : भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली-110003

© डॉ. ज्योतिबाबू जैन

PRAKRIT-SAMAYA
(Reserach)
By Dr. Jyotibabu Jain

Published by
Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110 003
Ph. : 011-24626467; 23241619 (Daryaganj)
Mob. : 9350538020; e-mail : bjnanpith@gmail.com
sales@jnanpith.net; website : www.jnanpith.net

First Edition : 2022
Price Rs. 600

Scanned with OKEN Scanner

अनुक्रम

संपादकीय –डॉ ज्योतिबाबू जैन
प्ररोचना– प्रो.सुदीप कुमार जैन

1. प्राकृत–काव्यों की मौलिक रमणीयता – प्रो.दामोदर शास्त्री/ 27
2. प्राकृत साहित्य में योग और ध्यान की परंपरा
– प्रो.भागचंद जैन भास्कर/ 34
3. प्राकृत–अध्ययन की उपयोगिता – प्रो.प्रेम सुमन जैन/47
4. प्राकृत साहित्य की परंपरा और उसकी विधाएं – प्रो.उदयचंद्र जैन/57
5. Importance of prakrit scriptures in modern times for our happiness - Dr.P.M Agrawal/ 66
6. प्राकृत पालि गाथाओं में साम्य – प्रो.धर्म चन्द्र जैन/ 76
7. आयुर्वेद में प्राकृत और संस्कृत की उपयोगिता – प्रो.ऋषभचंद जैन/ 85
8. प्राकृत आगमों में विज्ञान – प्रो. एन.एल.कछारा / 103
9. प्राकृत वाङ्मय में समत्व दृष्टि – प्रो.अशोक कुमार जैन/ 110
10. प्राकृत परम्परा के आचार्यो की समकालीन –युगचेतना
– प्रो.वीर सागर जैन/ 118
11. प्राकृत–सूक्तियों में लोकमंगल भावना – डॉ.रांका जैन/ 124
12. भारतीय साहित्य को प्राकृत का योगदान – डॉ.कमल कुमार जैन/ 130
13. प्राकृत शिलालेखों में समसामयिकता – डॉ.दिलीपधींग/ 145
14. प्राकृत आगमों के शैक्षिक संदर्भ – प्रो.जिनेंद्र कुमार जैन / 149
15. प्राकृतभाषा और आधुनिक संचार–माध्यम – प्रो.अनेकांत जैन/158
16. प्राकृत–काव्यों की समरसता – प्रो.जयकुमार उपाध्ये/ 166
17. आगमों में अंकित आचार–संहिता और पर्यावरण सुरक्षा – डॉ.अनिल कुमार जैन/174

Scanned with OKEN Scanner

18. प्राकृत आगमों में कषाय-विजय के उपाय - डॉ.श्रेयांस बाबू जैन/ 188
19. जैन आगम और वर्तमान कृषि-पद्धति - डॉ.प्रसन्न लाल पाण्डेय/ 194
20. प्राकृतभाषा जनकल्याणी - डॉ.सुमन कुमार जैन/ 202
21. प्राकृत भाषा का जैन-पत्रकारिता के विकास में योगदान
- डॉ.धर्मेंद्र कुमार जैन/ 217
22. प्राकृत-साहित्य में शैक्षिक निहितार्थ - डॉ.शुद्धात्मप्रकाश जैन/ 221
23. प्राकृत-वाङ्मय में आध्यात्मिक-विकास के सोपान
- प्रो.डॉ. अनिल कुमार जैन/ 231
24. प्राकृत-सूक्तियों की समसामयिकता - प्रो.कल्पना जैन/ 245
25. प्राकृत-साहित्य में ध्यान और उसकी उपयोगिता - डॉ. सत्यनारायण
शर्मा/251
26. प्राकृत के आधुनिक-चिंतक - डॉ.आशीष जैन/ 268
27. प्राकृत मंत्रों एवं स्तोत्रों का जीवन पर प्रभाव - प्रो.सदाचार शास्त्री/ 290
28. प्राकृत में सट्टक-परंपरा एवं उसकी प्रासंगिकता - डॉ.पंकजा जैन/ 305
29. विज्जावसुसावयायारो में अतिचारों की सामाजिक-स्थिति- डॉ.आनंद
कुमार जैन / 313
30. प्राकृत-साहित्य में अंकित अचौर्यव्रत की महत्ता
- डॉ.आलोक कुमार/ 319
31. प्राकृत चरित-ग्रंथों का वैभव एवं उपयोगिता - डॉ. माधुरी शास्त्री/ 325
32. गुजराती मध्यकालीन साहित्य पर प्राकृत का प्रभाव
- प्रो. सलोनी जोशी/ 340
33. नम्मयासुंदरी कहा में स्त्री शिक्षा- डॉ. वंदना चौधरी/ 344
34. कर्म-सिद्धांत और मानसिक-शांति - डॉ.वीरचन्द्र जैन/ 350

Scanned with OKEN Scanner

प्राकृत भाषा जनकल्याणी

डॉ. सुमत कुमार जैन

भारतीय भाषा परम्परा में 'प्राकृत' एक प्राचीन भाषा मानी जाती है। प्राकृत भाषा जनसामान्य की भाषा रही है। जनमानस या लोक का शिष्ट या नागरिक समाज से अपना एक विशिष्ट सम्बन्ध एवं महत्त्व रहा है। बिना शास्त्रीय चर्चा, अनुशीलन और मनन के लोकजीवन से उद्भूत अनुभव की बातें अपनी अद्भुत सटीकता रखती हैं। उनके देश की सीमा तो की जा सकती है, पर वे काल की सीमा से मुक्त सदाबहार होती हैं।

जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर महावीर और महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म के उपदेश जनमानस के लिए जनसामान्य की प्राकृत भाषा में दिया था, क्योंकि उस समय जन-जन के मानस-पटल पर कथ्य-भाषा के रूप में प्राकृत विद्यमान थी। श्रमण परम्परा के इन महापुरुषों के ज्ञान का संदेश सहजता, सरलता और सुबोधता से जनसामान्य तक पहुँच सके और वे अपना हित सम्पादन कर सकें, इस मुख्य प्रयोजन की सिद्धि हेतु प्राकृत भाषा में उपदेश दिया गया। इसीलिए जैनधर्म के आगम-ग्रन्थ और बौद्धों के त्रिपिटक प्राकृत भाषा में लिपिबद्ध किये गये। यह जनसाधारण के लिए उदारवृत्ति से सृजित कल्याणकारी साहित्य था, किसी वर्ग या जातिविशेष के लिए निर्धारित नहीं था। साहित्य सृजन का प्रधान उद्देश्य लोक-मंगल है। लोकमंगल लोकभाषा में अपेक्षाकृत अधिक लोकोपयोगी होता है।

भगवान् महावीर के द्वारा उपदेशित जनकल्याणी कार्य कौन से हैं? जो जीव मात्र के कल्याणार्थ प्राकृत भाषा में निहित हैं, मेरा प्रतिपाद्य विषय है। प्राकृत भाषा का माहात्म्य निम्न प्रकार से द्रष्टव्य है-

सव्वजीव-हिदकरा कहदु हो! का वट्टदि जणभासा।
तित्थयरा वि जं आसेज्ज, सा का अत्थि सुभासा।।
अणादिकालदो णारीणं वि, का हिदयमणुहरेदि।
का सा भासा, जा इह भरहे, मादुभासा वि वट्टदि।।

Scanned with OKEN Scanner

सव्वजीव-हिदकरा सुणदु हो! पाइअभासा लोए।
तित्थयराणं दिव्वझुणीए, भासेसा हि सोहदि।।
णिय-सुहदोच्चारणदो एसा, णारीण मणाणं हरदि।
सव्वा मादुसत्तिओ वयणे, पाइयभासा धरदि।।[1]

डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री के अनुसार "प्रत्येक देश और जाति के मूल संस्कार, उसकी अपनी भाषा, साहित्य तथा संस्कृति में निहित रहते हैं। जातीय-जीवन, लोक-परम्परा एवं सामाजिक नीति-रीतियों के अध्ययन से हमें उनकी पूरी जानकारी मिलती है, अतएव भाषा और साहित्य का प्रत्येक अंग लोक-मानस की अभिव्यक्ति का ही लिपिबद्ध स्वर होता है। मौखिक रूप में आज भी हमें गुणाढ्य की ही बृहत्कथा तथा प्राकृत और अपभ्रंश में लिखित कथाएँ, सूक्तियाँ, सुभाषित एवं अन्य उक्तियाँ गांवों में प्रचलित सुनाई देती हैं। वस्तुतः युग-युगों से साहित्यिक तथा सामाजिक परम्परा परस्पर विचारों का विनिमय करती आयी है, इसीलिए परम्परा में केवल इतिहास तथा पौराणिकता का लेखा-जोखा न होकर लोकजीवन में परिव्याप्त यथार्थ और आदर्श रूप-कुरूप, नीति और उपदेश तथा वृत्ति एवं रीति का भी समाहार हो जाता है"।[2]

भारतीय भाषा का विकास वैदिक काल में ही प्रारम्भ हो गया था। ऋग्वेद के वाक्सूक्त तथा अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त में स्पष्ट कहा गया है कि लोग देश के नाना क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार की बोलियाँ बोलते हैं। अशोक के शिलालेखों से भी प्रमाणित होता है कि एक ही प्राकृत भाषा उत्तर-पश्चिम और पूर्व के प्रदेशों में भिन्न-भिन्न प्रकार से बोली समझी जाती थी।[3]

प्राकृत भाषा को विशेष प्रोत्साहन तब मिला जब ई. पू. छठी सदी में भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध जैसे महापुरुषों का अवतरण हुआ और उन्होंने अपने-अपने धर्म सम्बन्धी उपदेशों के लिए उस समय उनकी विहारभूमि में प्रचलित जनभाषा को अपनाया और उन्होंने अपने शिष्यों को भी आदेश दिया कि वे उसी भाषा में उनके उपदेशों की ग्रन्थ रचना करें। यह भाषा मगध देश की होने से 'मागधी' तथा उसके सीमा से लगे हुए शूरसेनादि प्रदेशों के सीमावर्ती क्षेत्रों में प्रचलित बोलियों से भी प्रभावित होने के कारण अर्द्धमागधी कहलायी। दुर्भाग्यतः जिस रूप में उक्त उपदेशों की प्रथम ग्रन्थ रचना हुई होगी, वह रूप हमें अब उपलब्ध नहीं है। बुद्ध के उपदेशों पर आधारित पालि-साहित्य का वर्तमान स्वरूप उसे बुद्ध से सदियों पश्चात् लंका में प्राप्त हुआ था। महावीर के उपदेशों पर आधारित 'द्वादशांग' आगम आज जिस रूप में उपलब्ध है, वह रूप ईसा की पाँचवीं सदी में हुई वल्लभीपुर वाचना का है।

Scanned with OKEN Scanner

प्राकृत भाषा का जो स्वरूप प्राप्त होता है वह प्राकृत का आदिकाल तथा भारतीय आर्यभाषा का द्वितीय या मध्यम स्तर माना जाता है। यह मध्यम स्तर अपने आदि रूप में यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से संस्कृत भाषा की अपेक्षा बहुत भिन्न और सुगम है, तथापि उसमें संस्कृत की ध्वनियाँ बहुत कुछ समान पायी जाती हैं। यह स्तर हमें ई. की द्वितीय-तृतीय सदी तक रचे गये ग्रंथों, जैसे-पालित्रिपिटक, अश्वघोष के नाटक तथा राजा अशोक, खारवेल, आंध्रनरेशों के शिलालेखों में प्राप्त होता है।[4]

तत्पश्चात् मध्ययुगीन भाषा का द्वितीय स्तर प्रारम्भ हुआ। इसकी क्रान्तिकालीन परिस्थिति महाकवि भास के नाटकों में देखी जा सकती है। इसका विशेष लक्षण यह है कि शब्दों के क, ग, त, द आदि अल्पप्राण वर्णों का लोप होकर उनके स्थान में मात्र अ, इ आदि स्वर शुद्ध अथवा उच्चारण सौकर्य हेतु य से मिश्रित पाये जाते हैं तथा ख, घ, थ, ध आदि महाप्राणों के स्थान में 'ह' का आदेश कर दिया जाता है। इस प्रवृत्ति से प्रभावित वह समस्त प्राकृत साहित्य है जो विशेष रूप से तीसरी-चौथी सदी से लेकर छठी-सातवीं सदी तक रचा गया। यह मध्य व्यंजनों के लोप की प्रक्रिया महाराष्ट्री प्राकृत का विशेष लक्षण है और उसकी प्रतिनिधि रचनाएँ कालिदास कृत नाटकों के प्राकृत अंश, सेतुबंध, गाथासप्तशती, गउडवहो आदि हैं।[5]

हिन्दी आर्य भाषा के मध्यकाल का तृतीय स्तर का प्रतिनिधित्व करने वाली अपभ्रंश भाषा और उसका साहित्य है।

जनकल्याणी कार्य से तात्पर्य है, जिन कार्यों के निष्पादन से लोककल्याण सम्भव होता है। जो व्यक्ति के आत्मिक विकास में सहायक होते हैं तथा जिनसे समाज का नैतिक-आधार दृढ़ होता है। आगम-ग्रन्थों में प्रायः ऐसे कार्यों को अंकित करने का प्रयत्न किया गया है जो मानव मात्र को सद्भाव में प्रेरित करते हैं, मानव मात्र के लिए कल्याण का साधन बनकर पृथ्वीतल को सुखसम्पन्न एवं शान्ति-भूषित स्वर्ग के रूप में परिणत करने की क्षमता रखते हैं तथा जिनका अनुसरण लोकस्तर को ऊँचा उठाता है। इन्हीं उद्देश्यों के पूर्ति के लिए मुनि, आचार्य मनीषी लोक-वाणी प्राकृत में ग्रन्थों का प्रणयन करते हैं।

आगमों का प्रयोजन भी लोककल्याण से ओतप्रोत आदर्श तथ्यों की स्थापना करना ही रहा है। इसके अन्तर्गत अहिंसा की प्रतिष्ठा, आत्मशुद्धिपरक आध्यात्मिक-चिंतन, नैतिकजागरण, ग्राम्यजीवन की झांकी, आहारशुद्धि, सांस्कृतिक सौहार्द, सद्भाव एवं समन्वय, शिक्षा का महत्त्वपूर्ण घटक अनुशासन एवं विनय, सहनशीलता की मिशाल परिषहजय, मानवता, सद्धर्म श्रवण, जागरुकता का संदेश, परोपकारवृत्ति, संतोषवृत्ति- लोभ की अभिवृद्धि पर रोक, आहारशुद्धि, कर्म-प्रधान समाज, ब्रह्मचर्य व्रतों का राजा, अनुशासनहीनता का प्रतीक अविनय, उत्कृष्ट नारी-चरित्र, जातिवाद

व्यवसाय(पुरुषार्थ) में रहती है। यथा-

अप्पाणं अणुमन्ता जे आरंभन्ति दुग्गमं।
कज्जं परमुहपलोइयाणं, ताण कह होइ जयलच्छी।
न महुमहणस्स वच्छे मज्झे कमलाण नेय खीरहरे।
ववसायसायरे सुपुरिसाण लच्छी फुडं वसइ।।

परोपकारवृत्ति- परोपकार से अभिप्राय है- दूसरों का उपकार, दूसरे पर अनुग्रहबुद्धि, अन्य के प्रति भलाई का भाव।[9]

प्रो. सोगानी जी के अनुसार जनता में आस्था या विश्वास उत्पन्न होने से व्यक्ति में जो मूल्य-वृत्ति सबसे पहिले उत्पन्न होती है, वह है, पर उपकार वृत्ति।[10]

जनकल्याण के कार्यों का उल्लेख प्राकृत भाषा में सम्राट अशोक ने अपने शिलालेखों में किया है।[11] परोपकार के सम्बन्ध में मनुष्यों एवं पशुओं के बीच कोई भेद-भाव नहीं रखा गया है। कल्याण कार्यों में औषधियों और फल-वृक्ष के रोपे जाने, सड़कों पर मनुष्यों और पशुओं के लिए छायादार वृक्ष, आम्रवृक्षों की वाटिकाएँ, कुएँ, तालाब एवं जलासय का निर्माण, विश्रामगृह के निर्माण आदि के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[12] उपकार वृत्ति के माहात्म्य बताते हुए कहा गया है कि दो प्रकार के पुरुषों ही पृथ्वी को धारण करते हैं, एक तो वह जिनकी बुद्धि उपकार में लगी रहती है तथा दूसरे वे जो किये गये उपकार को नहीं भूलते हैं। यथा-

वे पुरिसा धरइ धरा अहवा दोहि पि धारिया धरणी।
उवयारे जस्स मइ उवयरियं जो न पम्हुसई।।

समत्वदृष्टि- राग-द्वेष में समत्वदृष्टि। किसी को मत मारो, चोट मत पहुँचाओ, परिताप मत करो, क्लेश मत दो। आचारांग में कहा है-'हे मनीषियों! आपको दुःख प्रिय है या अप्रिय? यदि आप कहें कि दुःख प्रिय नहीं है, तब आपके इस सम्यक् उत्तर पर कहना चाहेंगे कि जैसे आपको दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए दुःख अप्रिय, अशांतिजनक और महाभयंकर है।[13]

अन्यत्र यह भी कहा गया है कि व्यक्ति को विपत्ति और दुर्भाग्य के समय शान्ति और धैर्यपूर्वक जीवन-यापन करने का निर्देश दिया गया है, क्योंकि विपत्ति में ही सम्पत्ति और दुर्भाग्य में ही सौभाग्य का निवास रहता है। गाहासत्तसई में कहा गया है कि सज्जन पुरुष विपत्ति में उद्वेग रहित, सम्पत्ति में गर्व रहित, भय में धैर्य तथा समता-विषमता में अपरिवर्तित स्वभावी होते हैं। यथा-

वसणम्मि अणुव्विग्गा विहवम्मि अगव्विआ भए धीरा।
होन्ति अहिण्णसहावा समेसु विसमेसु सप्पुरिसा।।

Scanned with OKEN Scanner

विवेकसहित ज्ञान की जागृति- 'विवेक' व्यक्ति को हेय-उपादेय की पहचान कराने वाला चक्षु है। इस चक्षु के माध्यम से अच्छे और बुरे की पहचान की जा सकती है। विवेक ही मनुष्य को पशु से भिन्न करता है। विवेकमंजरी के मंगलाचरण में उन वीर प्रभु को नमस्कार किया है जो विवेकरूप दीपक से युक्त है और प्राणीमात्र को परमार्थ का ज्ञान कराते हैं-

सिद्धपुर सत्थवाहं वीरं णमिऊण वरं जिणनाहं।
सवण सुहारससरिअं वुच्चामि विवेकमंजरी अं।।1।।
दुट्ठकम्मवसगा भमंति भीम भवंमि निस्सीमं।
भद्द विवेकपईवो जीवाणं मुणंति परमत्थं।।2।।

विवेक की महिमा बताते हुए कहा है कि विवेकपूर्ण आचरण से मन की शुद्धि होती है।[14] इस शुद्धि के चार कारण निरूपित किये गये हैं - 1.चार शरणों (चत्तारिसरणं) की स्वीकृति 2.गुणों की सच्ची अनुमोदना 3.पापों की निन्दा और 4.बारह भावनाएँ। विवेक सहित ज्ञान शिक्षित करता है, ज्ञान गुणी बनाता है, ज्ञान पर को उपदेश देता है, ज्ञान से न्याय किया जाता है और ज्ञान से ही विनयी होता है। पद्मनंदि-पंचविंशति[15] ग्रन्थ में कहा है कि जो जन उत्तम गुरु के द्वारा प्ररूपित शास्त्र को नहीं पढ़ते हैं, उन्हें बुद्धिमान मनुष्य दोनों नेत्रों से युक्त होने पर भी अन्धा समझते हैं। जिनके अन्दर ज्ञान रूपी ज्योति जल जाती है, उनकी बुद्धि कभी मैली नहीं होती है।[16] यह भी कहा है कि ज्ञान के समान संसार में दूसरा कोई सुख का कारण नहीं है, क्योंकि यह ज्ञान ही जन्म, जरा और मृत्यु रूपी रोग दूर करने के लिए अमृत के समान है।[17] ज्ञान के बिना मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती है।[18] इस प्रकार ज्ञान की अद्वितीय महिमा बतायी गयी है।

शिक्षा का महत्त्वपूर्ण घटक अनुशासन एवं विनय-विनय का जीवन में अत्यन्त महत्त्व है। विद्या से विनय आती है। विनशीलता व्यक्तित्व की पहचान है। उत्तराध्ययनसूत्र के विनय नामक अध्ययन में विनय और अविनय के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा है कि अविनीत शिष्य सूकर और कुतिया की तरह होता है, वह सभी के लिए हेय होता है, जबकि विनीत शिष्य मेधावी होता है और वह गुरु एवं सभी के लिए उपादेय होता है।[19] विनीत का कथन करते हुए कहा गया है कि वह गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करता, गुरु की शुश्रुषा करता है, गुरु के इंगित और आकार को जानता है। बिना पूछे कुछ नहीं बोलता, पूछने पर असत्य नहीं बोलता, क्रोध आ जाए तो उसे जीत लेता है, प्रिय और अप्रिय को अंगीकार करता है अर्थात् गुरु जैसा कहे उसे शिरोधार्य करता है।[20]

वर्तमान में विपरीत मार्ग पर चल रहे शिक्षार्थियों के सम्यक् बोध हेतु उत्तराध्ययन में वर्णित है कि विद्यार्थी की योग्यता एवं अयोग्यता क्या हो? इस हेतु बहुत ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया है। यहाँ विद्यार्थी की योग्यता के लिए कहा है कि उसका आचार्यकुल में रहना, उत्साही, विद्या-प्रेमी, मधुरभाषी तथा शुभकर्मा होना आवश्यक माना गया है।[21] विद्यार्थी की योग्यताओं का विवेचन करते हुए उसमें इन आठ[22] गुणों का रहना आवश्यक बताया गया है- सहनशीलता, इन्द्रियनिग्रही, मधुर भाषी, शीलवान, रसों में अलोलुपता, अक्रोधी, शीलवृत्ति की दृढ़ता और सत्यभाषी। आदिपुराण के अनुसार विद्यार्थी में जिन मौलिक गुणों का होना अनिवार्य है, वे ये हैं[23] - जिज्ञासावृत्ति, श्रद्धा (अध्ययन और अध्यापक दोनों के प्रति आस्था), विनयशीलता, शुश्रूषा, श्रवण (पाठ-श्रवण के प्रति सतर्कता एवं जागरूकता), ग्रहण (गुरु द्वारा अध्यापन किए गए विषय को ग्रहण करने की अर्हता), धारणा (पठित विषय को सदैव स्मरण रक्षने की क्षमता), स्मृति (कालान्तर में नहीं भूलना), ऊह (तर्कणा-शक्ति), अपोह (पठित ज्ञान के आधार पर विचार-शक्ति का प्राबल्य एवं अकरणीय त्याग), निर्णीति (विचार करने की क्षमता), संयम, प्रमाद का अभाव, सहज प्रतिभा (विशेष क्षयोपशम शक्ति) और अध्यवसाय।

उक्त तथ्यों के आलोक में यह कहा जा सकता है कि आज जनजीवन में अशान्ति और अनुशासनहीनता के काले बादल मँडरा रहे हैं। उसका मूल कारण जीवन में विनय का अभाव है और अहंकार की वृद्धि है तथा विनय का अभाव परिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रिय जीवनशैतान की आँत की तरह बढ़ रहा है, जिससे न परिवार सुखी है, न समाज सुखी है और न राष्ट्र के अधिनायक ही शान्ति में है।

आत्मतुला-प्राकृतिक पदार्थों तथा जिनमें जीवन का अस्तित्व है, चेतना है, ऐसे सजीव पदार्थों का मानव-जीवन के साथ गहरा सम्बन्ध है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया- 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'[24] अर्थात् जीवों का स्वभाव परस्पर उपकार करना होना चाहिए। यही कारण है कि जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने कहा- धम्मं चरणस्स पंच निस्सा ठाणा तं जहा- छक्काए गणे राया सरीर अर्थात् जो व्यक्ति आध्यात्मिक धर्म का आचरण(साधना) करना चाहता है, उसके लिए निम्न पाँच स्थानों पर आलम्बन लेना बताया है। जैसे कि षट्कायिक जीव, गण, शासक, गृहपति और शरीर। इस सूत्र में छह काय (एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक) के जीवों के आश्रय को प्राथमिकता दी गई है। अतएव जैनागमों में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में जीवन का अस्तित्व स्वीकार किया है एवं इन सभी का विस्तार से निरूपण प्राप्त होता है। ये जीव कहाँ-कहाँ रहते हैं? उनका शरीर किस-किस प्रकार का है, वे कैसे-कैसे श्वासोच्छवास, आहार आदि ग्रहण करते हैं? उनका विकास-

ह्रास कैसे-कैसे होता है? उनकी उत्कृष्ट आयु कितनी है? उनमें कितनी इन्द्रियाँ हैं, कितने प्राण है?- इन सभी प्रश्नों पर बहुत गहराई से विचार प्रस्तुत किया गया है।

क्षमा- क्षमा का अर्थ सहनशीलता है। बारस अणुवेक्खा के अनुसार क्रोध के उत्पन्न होने के साक्षात् बाहरी कारण मिलने पर भी जो थोड़ा भी क्रोध नहीं करता है, उसे उत्तम क्षमा धर्म होता है।[25] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कथन है कि देव, मनुष्य और तिर्यंचों द्वारा घोर व भयानक उपसर्ग पहुँचाने पर भी जो क्रोध से तप्त नहीं होता, उसे निर्मल क्षमाधर्म साधित होता है-

कोहेण जो ण तप्पदि, सुर-णर-तिरिएहि कीरमाणे वि।
उवसग्गे वि रउद्दे, तस्स खमा णिम्मला होदि।।

व्यक्ति को जहाँ तक सम्भव हो, वहाँ तक क्षमा धारण करना चाहिए। सभी प्राणियों के प्रति सुरक्षा, संयम, समुचित व्यवहार और मृदुता की भावना होनी चाहिए। यहाँ तक कहा गया है कि जो क्षमा करने में समर्थ हैं जो धनवान गर्व नहीं करते और विद्वान् विनम्र होते हैं- इन्हीं तीनों से पृथ्वी अलंकृत है। यथा-

जे जि खमेइ समत्थो, धणवन्तो जं न गव्वं उव्वहइ।
जं च सविज्जो नमिओ, तिसु तेसु अलंकिया पुहवी।।-

कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-150

संयम-सम्यक् रूप से यम अर्थात् नियंत्रण संयम है[26] और आत्मा की रुचि का नाम भाव है जो सम्यक्त्व का कारण होता है।[27] शुद्ध चैतन्य शुद्धभाव है।[28] राजवार्तिक (9.6.16.596.1) के अनुसार भावशुद्धि संयम की आठ शुद्धियों में से एक है।

प्राकृत-मनीषियों ने जीवकायसंजमे अजीवकायसंजमे य अर्थात् जैसे जीवकाय के प्रति संयम रखने की प्रेरणा दी है, वैसे ही अजीवकाय (जड़, प्रकृतिजन्य वस्तुएँ या पुद्गलों) के प्रति भी संयम रखने की प्रेरणा दी है, किन्तु, आधुनिक समय में मानव इस तथ्य का नजरअंदाज करके जीवकाय और अजीव-काय दोनों प्रकार के पर्यावरण-संतुलन के लिए उपयोगी सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति अधिकाधिक असंयम करके अंधाधुंध रूप से संतुलन बिगाड़ने का पराक्रम करके प्रदूषण फैला रहा है। षट्खण्डागम एवं समवायांगसूत्र के सत्रहवें समवाय में संयम का विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है- पृथ्वीकायिक-संयम, अप्कायिक-संयम, तेजस्काय-संयम, वायुकाय-संयम, वनस्पतिकाय-संयम, द्वीन्द्रिय-संयम, त्रीन्द्रिय-संयम, चतुरिन्द्रिय-संयम, पंचेन्द्रिय-संयम, अजीवकाय-संयम, प्रेक्षा-संयम, उपेक्षा-संयम, अपहृत्य-संयम, प्रमार्जना-संयम, मन:संयम, वचन-संयम, और काय-संयम। इन संयम के प्रकारों में पृथ्वीकायिक आदि नौ प्रकारों के जीवों के प्रति संयम रखना, उन जीवों

को कष्ट हो, त्रास हो, ऐसी प्रवृत्ति नहीं करना है। अजीवकाय संयम में प्रकृतिजन्य सभी निर्जीव पदार्थों के प्रति संयम की प्रेरणा है। प्रेक्षा, उपेक्षा, अपहृत्य एवं प्रमार्जना रूप संयम में प्रत्येक प्रवृत्ति करते समय देखें, पूर्वापर का, परिणाम का विचार करें, जिस स्थान पर या प्रवृत्ति में जीवहिंसा अधिक हो, जिससे अपने स्वास्थ्य परिवार एवं समाज की हानि हो, उस प्रवृत्ति के प्रति उपेक्षा करें। जहाँ सींचना, खोदना आदि हो वहाँ भी संयम रखें, ताकि किसी जीव को पीड़ा न हो, क्रोधादि में संयम रखें।

जीवन का सर्वांगीण विकास करना संयम का परम उद्देश्य है। समस्त प्राणियों में संयमभाव ही अहिंसा है- "अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्वभूयेसु संजमा"[29] उसके सुख संयम में प्रतिष्ठित है। मन, वचन, काय से संयमी व्यक्ति स्व-पर का रक्षक तथा मानवीय गुणों का आगार होता है। शील संयमादि गुणों से भरपूर व्यक्ति ही सत्पुरुष है और ऐसे सत्पुरुष ही पर्यावरण का रक्षक होते हैं।

सदाचार- सामान्य सदाचार को धर्म का आधार बताते हुए वर्णित है कि "माता-पिता की शुश्रुषा, वृद्धों की शुश्रुषा, गुरुओं की शुश्रुषा, जीवों के प्रति दया, सत्यभाषण, शिष्यों द्वारा आचार्य का आदर और सम्बन्धियों के प्रति समुचित बर्ताव- ये सभी धर्म के तत्त्व हैं।[30] ये सभी आधार धर्म को पूर्णतया व्यवहारिक रूप में प्रस्तुत करते हैं। अशोक के अभिलेखों में धर्म के निम्नलिखित लक्षण उल्लिखित हैं।[31] -

अपासिनवे (पापों से दूर रहना), बहुकयाने (अनेक कल्याणकारी कार्य करना), दया (दीन-दु:खी प्राणियों पर दया करना), दान (आवश्यकतानुसार यथाशक्ति सभी को दान देना), सचे (सत्य बोलना) और सोचये (शरीर, वचन और विचार की शुद्धता)।

उत्कृष्ट नारी-चरित्र- भारतीय संस्कृति में नर की अपेक्षा नारी की विशेषता सिद्ध करने का प्रयास किया है। नारियों की प्रशंसा में कहा गया है कि "नार्यस्तु यत्र पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता" जिस घर में स्त्रियों का सम्मान होता है, वहाँ देवता भी आनन्दपूर्वक निवास करते हैं। वस्तुत: घर को सुख-समृद्धि से परिपूर्ण बनाने में नारियों का ही प्रथम हाथ होता है। पुरुष तो हमेशा एक रूप में ही दिखाई पड़ता है, जबकि स्त्रियाँ अपने विविध रूप में होकर अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण करती हैं। मुख्यत: नारियों के कन्या, पत्नी और माता रूप होते हैं। इन सभी रूपों की अभिव्यक्ति कण्हचरियं में उपलब्ध होती है। कण्हचरियं में राजीमती का कन्या के रूप में उत्कृष्ट आदर्श वर्णित है, जो अनुकरणीय की श्रेणी में रखे जाने योग्य है।

शीलवती स्त्री के रूप में राजीमती का जैसा वर्णन उत्तराध्ययन में वर्णित है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। नेमिनाथ के लघुभ्राता रथनेमि राजीमती से विवाह का प्रस्ताव रखता है, तो वह स्पष्ट ही मना कर देती है, क्योंकि उसने मन से नेमिकुमार को अपना

Scanned with OKEN Scanner

जीवन-साथी स्वीकार कर लिया था। पुनः जब साध्वी के रूप में पवित्र राजीमती को रथनेमि विषयभोग के लिए प्रेरित करता है, तब वह उन्हें फटकारती है और प्रतिबोधित करती है। जैसे कहा है-

धिरत्थु ते जसोकामी! जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं सेयं ते मरणं भवे।।[22]

अर्थात् हे यशःकामिन! धिक्कार है तुझे जो तू भोगी जीवन के लिए वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है। इससे तो तेरा मरण श्रेष्ठ है। इन बोधवचनों से राजीमती संयम से भटके रथनेमि को प्रतिबोधित कर सन्मार्ग पर लाती है। यहाँ राजीमती के रूप में नारी के उदात्तता का चित्रण किया गया है।

महाकवि हाल ने गाहासत्तसई में नारी के उत्कृष्ट-नारी चरित्र को उद्घाटित कर लोकजीवन के मूल्यों की स्थापना की है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:-

साहीणे विपिअअमे पत्ते वि खणे ण मंडिओ अप्पा।
दुग्गअ-पउत्थ-वइअं सअज्जिअं संठवंती ए।।- 1/39

अर्थात् अपने पति के प्रवास से वापस आ जाने पर भी नायिका कुसुंबी चीर इसलिए धारण नहीं करती है कि पड़ोसन एक तो गरीब है और दूसरे प्रोषितपतिका भी, अतः उसके मन को दुःख न पहुँचे। ऐसी परदुःखकातरता यदि आज नायिकाओं में आ जाए तो क्या बात है?

दिअरस्स असुद्धमणस्स कुलवहू णिअअ कुड्डु लिहिआइं।
दिअहं कहेइ रामाणु लग्गा सोमित्त-चरिआइं।।-1/35

अर्थात् अपनी भाभी पर बुरी नजर रखने वाले बिगडैल देवर को नायिका दिन-रात लक्ष्मण का चरित्र सुनाती है। ताकि वह देवर-भाभी के संबंधों की मर्यादा व पवित्रता को पहिचाने। वह सीधे डॉट सकती थी या पति से देवर की शिकायत कर सकती थी, परन्तु इससे संयुक्त परिवार की निश्चित ही हानि होती। इसलिए स्वयं व्यथा सही, परन्तु देवर को लक्ष्मण कथा कही।

अइकोवणा वि सासू रुआविआ गअवईअ सोण्हाए।
पाअपडणोण्ण आए दोसु वि गलिएसु वलएसु।।-5/93

अर्थात् सास के पैर छूने के लिए झुकने पर बहु के दोनों वलय(कंगन) गिर पड़े- बहु की ऐसी कृश-दशा देखकर गुस्सैल सास भी करुणा से रो पड़ी। यह आदर्श हाल के अतिरिक्त कौन प्रस्तुत कर सकता है?

सदगृहस्थ नारी के लक्षण वज्जालग्गं में वर्णित है कि जो नारी परिवार के समस्त सदस्यों के भोजन कर लेने के उपरान्त भोजन करती है, सभी परिजनों के सोने

Scanned with OKEN Scanner

के पश्चात् सोती है और प्रातःकाल सर्वप्रथम जाग उठती है, वह सामान्य गृहिणी नहीं, घर की लक्ष्मी है-

भुंजइ भुंजियसेसं, सुप्पइ सुत्तम्मि परियण सयले।
पढमं चेय विबुज्झइ, घरस्स लच्छी न सा घरिणी।।

-वज्जालग्गं, गाथा

इस प्रकार नारियाँ जहाँ भोग्योपभोग, ऐहिकसुख एवं सन्तानोत्पत्ति की साधन मानी जाती हैं, वहाँ अपने शील और संस्कृति की रक्षा करना अत्यन्त अनुकरणीय है।

आहारशुद्धि

प्राकृत साहित्य में स्वस्थ जीवन के लिए आहार-विज्ञान की उपयोगिता दृष्टिगत होती है। हमारा आहार कैसा हो? इस प्रश्न पर प्राचीन समय से ही निरन्तर चिंतन-मनन किया जाता रहा है। साधना और स्वास्थ्य, आहार-विज्ञान के मुख्य केन्द्र बिन्दु हैं।

स्वास्थ्य की दृष्टि से आहार का बहुत बड़ा महत्त्व है। आहार का सामान्य अर्थ है कि भोजन व पेय। आहार-विज्ञान का अर्थ है- वह विज्ञान जिसमें खाद्य पदार्थों के गुण-दोषों, पोषक तत्त्वों आदि का वर्गीकरण किया जाता है। प्राकृत साहित्य में आहार के चार प्रकार बतलाये हैं- अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य। आवश्यक निर्युक्ति में विवेचित है-

असणं पाणगं चेव, खाइमं साइमं तहा।
एसो आहारविही, चउव्विहो होइ नायव्वो।।
आसुं खुहं समेई, असणं पाणाणुवग्गहे पाणं।
खे माइ खाइमं ति य, सएइ गुणे तओ साई।।-गाथा,1587-1588

अर्थात् अशन-जो क्षुधा का शीघ्र शमन करता है, भूखे व्यक्ति द्वारा जिसे खाया जाता है, उसे अशन कहते हैं। जैसे चावल आदि। पान- जो प्राणों का उपग्रह करता है, जिसे पीया जाता है, उसे पान कहते हैं। जैसे द्राक्षा का पानक आदि। खाद्य-जो मुखविवर में समा जाता है, जिसे खाया जाता है, उसे खादिम या खाद्य कहते हैं। जैसे मोदक, खजूर आदि। स्वाद्य- जिसका स्वाद लिया जाये जो मुखवास के रूप में काम आए, उसे स्वादिम अथवा स्वाद्य कहते हैं। जैसे ताम्बूल, सोंठ आदि।

प्राकृत साहित्य में आहार-विज्ञान से सम्बन्धित चर्चा माँस, मधु और पंच उदुम्बरफल का त्याग, रात्रिभोजनत्याग, जलगालन आदि के माध्यम से की गई है और अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग आदि के माध्यम से आहार-शुद्धि को बताया गया है।

बहुत से लोग सही और गलत आहार से अनभिज्ञ हैं, वे इन दोनों के अन्तर को समझने में असमर्थ हैं। प्राकृत साहित्य में आहार-शुद्धि पर गहराई से चिन्तन-मनन किया गया है। इस साहित्य में वर्णित है कि अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग आदि आहार शुद्धि के कारण हैं। इन तथ्यों को आज का विज्ञान भी स्वीकार करता है। यहाँ गाथा में द्रष्टव्य है-

अप्पाहारस्स न इंदियाई विसएसु संपत्तंति।
नेव किलम्मइ तवसा रसेसु न सज्जए यावि।।
थोवाहारी थोवभणियो य, जो होइ थोवनिद्दो य।

अर्थात् अल्पाहारी की इन्द्रियाँ विषयभोगों की ओर नहीं दौड़ती, तप करने पर भी क्लांत नहीं होती और न स्वादिष्ट भोजन में आसक्त होती हैं। जो साधक कम खाता है, कम बोलता है, कम नींद लेता है और धर्मोपकरण की सामग्री कम रखता है, उसे देवता भी नमन करते हैं।

वर्तमान में पाश्चात्य संस्कृति ने हमारी प्राचीन संस्कृति पर चारों ओर से आक्रमण किया है। परिस्थितियों ने भी करवट ली है। जंकफूड, फास्टफूड, पिज्जा आदि जैसे आधुनिक आहार प्रकारों ने एक ओर हमारे स्वास्थ्य पर आघात किया है, मधुमेह, ब्लड प्रेशर, हृदय रोग जैसी अनेक बीमारियों को आमन्त्रित किया है तो दूसरी ओर होटल संस्कृति ने हमारे आहार को अशुद्ध बना दिया है। जिसका असर हमारी मन-वचन-काय की क्रियाओं पर पड़ा है। निश्चित ही हमारे आहार से हमारे भाव प्रभावित होते हैं। भावों की शुद्धता के लिए आहार-शुद्धि एक आवश्यक और अपरिहार्य तत्त्व है, इसलिए कहा गया है-जैसा खाओ अन्न, वैसा होवे मन, जैसा पियो पानी, वैसी होवे वाणी।

संतोषवृत्ति

संतोष शब्द की व्युत्पत्ति है-समतुघज। संतोषवृत्ति का अर्थ है कि जो मिले उसी में प्रसन्न रहने की वृत्ति, संतोषवृत्ति है। संतोष के अन्य अर्थ है- तृप्ति, प्रसन्नता और धैर्य। जीवन में जिस मानव में संतोषवृत्ति होती है, उसका जीवन संयमित एवं सुखद होता है। स्वयं के प्रति उनकी श्रद्धा-आस्था होती है, वे जीवन में दुःखों के क्षणों का धैर्य और साहसपूर्वक मुकाबला करते हैं। संतोष के विपरीत तृष्णा को वर्णित करते हुए कहा है कि जिस प्रकार पाताल की गहराई और सागर की लहरों से उस वडवानल की तृष्णा बुझती नहीं है ,[33] उसी प्रकार मानव का तृष्णा रूपी गड्ढा भी कभी भरता नहीं है। अतः इच्छाओं को सीमित कर संतोषवृत्ति को अपनाना चाहिए। संतोष वृत्ति को धारण करने से ही मानव सुखी होती है।

Scanned with OKEN Scanner

द्वादशानुप्रेक्षा में सहिष्णुता के सम्बन्ध में कहा गया है कि व्रती पुरुष उपसर्ग तथा तीव्र परिषह को ऋणमोचन-कर्ज चुकाने की तरह मानता है। वह जानता है कि ये तो मेरे द्वारा पूर्वजन्म में संचित किये गये कर्मों का ही फल है।[64] दशवैकालिक सूत्र में सहिष्णुता के सम्बन्ध में कहा है कि क्षुधा, प्यास व दुःशैय्या, विषमभूमि-युत वासस्थान, सर्दी, गर्मी, अरति, भय- इन कष्टों को मुमुक्षु अव्यथित चित्त से सहन करे। समभाव से सहन किये गये, दैहिक कष्ट महाफल के हेतु होते हैं।[65]

निष्कर्षतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि उपरोक्त अहिंसा, अनुशासन, विनय, सहनशीलता परोपकारवृत्ति, संतोषवृत्ति, आहारशुद्धि, उत्कृष्ट नारी-चरित्र, सम्यक्-आजीविका आदि विषयक जनकल्याणी तथ्यों को सम्यक् विधि से अपनाता है तो अपना जीवन सुखी, समृद्ध और आनंदमय बना सकता है। अपने परिवार में माता-पिता तथा वृद्धों की सेवा एवं आदर भाव, गुरुजनों के प्रति सेवा एवं आदर भाव, सम्बन्धियों के प्रति उचित व्यवहार, दास तथा भृत्यों के प्रति उचित व्यवहार, मित्र, स्वामी, परिचित, सहायक तथा परिवार के प्रति उचित व्यवहार, प्राणियों की हिंसा न करना तथा उन पर दया करना, दरिद्र एवं पीडित व्यक्तियों के साथ उचित व्यवहार और नम्रता, यथाशक्य क्षमा-भाव रखना आदि महत्त्वपूर्ण तथ्यों द्वारा पारिवारिक एवं सामाजिक गुणों के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भलिभांति निभा सकता है। इन सभी पर आदर्श घर-परिवार, समाज तथा राष्ट्र का अस्तित्व निर्भर करता है। प्राकृत साहित्य में वर्णित कल्याणपरक तथ्यों को अपनाकर व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व के कल्याण की कामना की जा सकती है।

सन्दर्भ सूची-

1. का पुण पाइयभासा, गीति- लेखक- प्रो. सुदीप कुमार जैन,संलेहणा (प्रवेशांक, जुलाई से दिसम्बर, 2018), षाण्मासिकी सन्दर्भित शोधपत्रिका में उद्धृत, महावीर परमार्थ फाउण्डेशन, नईदिल्ली, 2018ई.
2. भविसयत्तकहा तथा अपभ्रंश कथाकाव्य, देवेन्द्र कुमार शास्त्री, अ. 1, पृ. 15
3. णायकुमारचरिउ, कविपुष्पदंत, हीरालाल जैन, प्रस्तावना, पृ. 22, 23
4. णायकुमारचरिउ, पुष्पदंत, हीरालाल जैन, प्रस्तावना, पृ. 23
5. णायकुमारचरिउ, प्रस्तावना, पृ. 23
6. सूत्राकृतांगसूत्र- 1.2.3.163, श्री आगमप्रकाशन समिति, व्यावर (राज.), 1999 ई., पृ.161.
7. आवश्यकसूत्र-प्रतिज्ञासूत्र, 1.1, श्री आगमप्रकाशन समिति, व्यावर(राज.) 2001 ई., पृ.8.

Scanned with OKEN Scanner

8. कुलजोणिजीवमग्गणठाणाइसु जाणउफण जीवाणं।
तस्सारंभणियत्तणपरिणामो होइ पढमवदं।।- नियमसार: -56, अनेकान्त ज्ञान मंदिर शोध संस्थान, बीना(सागर) से 2010ई. में प्रकाशित।
9. परेषां सर्वसाधारणामनामुकारो हितसाधनं तस्यैक:।-जयोदय वृत्ति, 1/86, परेषां प्राणिनामनुग्रह एवं।-जयोदय वृत्ति, 1/12, परस्यायनुग्रहबुद्धि:। वीरोदय, 1/33, परोपकारेण सुरश्रिय: स। वीरोदय, 14/27
10. चेतना के आयाम और मूल्यात्मक अनुभूति, लेख- वज्जालग्गं= सामाजिक मूल्य, पृष्ठ 115, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर 2000 ई.
11. पाँचवे शिलालेऽ में लोक-कल्याण(कलाणं दुकरं) की बात कही गयी है और उसे दुष्कर बताया गया है। छठे शिलालेऽ (कतव्यमते हि मे लोकहित) के अनुसार प्रशासक का कर्त्तव्य लोकहित और पराक्रम होना चाहिए।
12. द्वे चिकिछ कता मनुसचिकीछा च पसुचिकीछा च ओसुढानि च यानि मनुसोपगानि च पसोपगानि च यत यत नास्ति सर्वत हारापितानि च रोपापितानि च- मूलानि च फलानि च यत यत नास्ति सर्वत हारापितानि च रोपापितानि च पंथेसु कूपा च खानापिता र्वछा च रोपापिता परिभोगोय पसुमनुसानं।- द्वितीय शिलालेख एवं सप्तम स्तम्भलेख में वर्णन है।
13. आचारांग-1.4.2.139, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 2010ई.।
14. तस्स विभूसणमेअं, मणसुद्धी मंजरी वररुक्खस्स।
तीए समिच्छो एसो, सुहं फलरिद्धि पयच्छेइ।।-विवेकमंजरी, गाथा,4
15. ये पठन्ति न सच्छास्त्रं सद्गुरुप्रकटीकृतम्।
तेऽन्धा: स चक्षुषोऽपीह संभाव्यन्ते मनीषिभि:।।-पद्मनंदिपंचविंषति (6 उपासक संस्कार, श्लोक-20), मुनि पद्मनंदि, सम्पा. अनु.- पं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षण संघ, सोलापुर, 2000ई.
16. ज्ञान उदै जिनके घट अन्तर ज्योति जगी, मति होति न मैली।-भव्यप्रमोद, कविवर, पं. मक्खनलाल जैन, भारतवर्षीय दिग. जैन साहित्य प्रकाषन एवं प्रचार समिति, जयपुर, 2004ई. पृष्ठ 193
17. ज्ञान समान न आन, जगत में सुख को कारण।
इह परमामृत जन्म जरा मृतु रोग निवारण।-छहढाला, चौथी ढाल, पद्य-4, प्रकाशन- श्री दिग. जैन युवक संघ, इन्दौर, 2001ई.
18. ज्ञान विना शिवपन्थ न सूझै।-भव्यप्रमोद, कविवर, पं. मक्खनलाल जैन, पृष्ठ 193
19. जहा सुणी पूइकण्णी निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सील पडिणीए मुहरी निक्कसिज्जई।।

Scanned with OKEN Scanner

कणकुण्डगं चइत्ताणं विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एवंसीलं चइत्ताणं दुस्सीले रमई मिए।।-उत्तराध्ययन,1/4 से लेकर 14 तक
20. उत्तराध्ययन, गाथा-1/2 एवं 14
21. वसे गुरुकुले निच्चं जोगवं उवहाणवं।
पियंकरे पियंवाई से सिक्खं लद्धुमरिहई।। - उत्तराध्ययन,11.14.
22. उत्तराध्ययनसूत्र (लाडनूं संस्करण), 11.4-5, पृ.438-39.
23. आदिपुराण (भाग-1) - 1.68, 1.140-48 एवं महापुराण (भाग-2) 38.109-118, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।
24. तत्त्वार्थसूत्र, 5/21
25. कोहुप्पत्तिस्स पुणो बहिरंग जदि हवेदि सक्खादं।
ण कुणदि किंचिवि कोहं तस्स खमा होदि धम्मोत्ति।।- बारह अणुवेक्खा- गाथा 71
26. सम्यक् यमो वा संयमः- धवला, 7/2.1.3/7/3
27. भाव आत्मरुचिः जिनसम्यक्त्वकारणभूतो हेतुभूतः- भावपाहुड़ टीका, गाथा 66
28. शुद्धचैतन्यं भावः- प्रवचनसार (तात्पर्य वृत्ति) 115.161.14
29. दशवैकालिक सूत्रा- 6/9
30. चतुर्थ, नवम, ग्यारह और त्रयोदश शिलालेख।
31. द्वितीय स्तम्भलेख।
32. उत्तराध्ययन,22 अध्ययन गाथा 42
33. पायालुयरगहरीहिं सायरलहरीहिं जा न उल्हविया।
सा वडवानलतण्हा कह फिट्टइ सरिझलक्केहिं।।-गाहारयणकोस, गाथा-49
34. रिणमोयणं व मण्णइ, जो उवसग्गं परिसहं तिव्वं।
पावफलं मे एदं, मया वि जं संचिदं पुव्वं।।-द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा 110
35. खुहं पिवासं दुस्सेज्जं, सीउण्हं, अरइ भयं।
अहियासे अव्वहिओ, देह-दुक्खं महाफलं।।

पता- सहायक आचार्य
जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग
मोहनलाल सुखाडिया विश्वविद्यालय,
उदयपुर-313001(राज.)
मो. 9024764343,

Scanned with OKEN Scanner